

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की वर्तमान समय में नैमित्तिकता

अतुल कुमार¹ & भरत कुमार पंडा², Ph. D.

¹(पी. एच. डी.शोधार्थी) शिक्षाशास्त्र, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गाँधी, अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

वर्धा,महाराष्ट्र-442001 Email-id :-atulkumargupta00@gmail.com

²(सहायक प्राध्यापक), शिक्षाशास्त्र, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गाँधी, अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

वर्धा,महाराष्ट्र-442001

Abstract

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को आदिकाल से ही प्रभावित करता आया है और मनुष्य ने शिक्षा के द्वारा अपने ही समाज और संस्कृति का विकास किया है। जिसका परिणाम आज का आधुनिक समाज है। शिक्षा समय, समाज, संस्कृति और देश की भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार बदलती रही है। किन्तु आज हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो गयी है, जहाँ हम शिक्षा का अर्थ किसी स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय में जाकर विभिन्न विषयों की दस या बीस-तीस पुस्तकें अध्यापकों से पढ़ लेना ही समझते हैं। जिस व्यक्ति ने इस नियत पाठ्यक्रम के अनुसार जितनी अधिक पुस्तकें पढ़ी हैं और जितनी ऊँची परीक्षाएं पास की हैं वह हमारी दृष्टि में उतना ही अधिक शिक्षित या विद्वान है। आजकल लोगों का यही विचार है कि जो व्यक्ति अक्षरों से परिचित नहीं है और एक या कई भाषाओं को लिखने-पढ़ने की योग्यता नहीं रखता वह कदापि शिक्षित नहीं कहा जा सकता है। परन्तु हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था ऐसी नहीं थी उसमें विद्यार्थियों को केवल किसी एक विधा की शिक्षा नहीं दी जाती थी बल्कि उन्हें शिक्षा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास की शिक्षा दी जाती थी। जिससे वे अपने जीवन में किसी भी कठिनाई का सामना कर सकें किन्तु आज की शिक्षा ऐसा करने में असमर्थ है। बी. सरन ने कहा है कि, “चाहे कितने भी अच्छे दिन क्यों न आये तब तक मातृभूमि का मुखमण्डल न चमकेगा जब तक की भारत की संस्कृति बोल न उठेगी, जंगलों के गुरुकुलों में निवास करने वाले ऋषियों की भाषा में, जागकर न कहेगी की उस अलौकिक संदेश और शिक्षा को फैलाओ, गुरुकुल प्रणाली के सिद्धांत सदैव और सर्वत्र ग्रहणीय है – प्रत्येक देश और प्रत्येक परिस्थिति में”। आज हमारी शिक्षा किसी अंधेरी गुफा में अपने रास्ते से भटक गयी है। ऐसा क्यों? अतः हम अपनी आधुनिक शिक्षा में कुछ दिशा एवं दशा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जिसे हम इस लेख के माध्यम से दृष्टिपादित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

Keywords: -प्राचीन भारतीय शिक्षा, आधुनिक शिक्षण, गुरुकुल प्रणाली, विद्यालयी शिक्षा।



[Scholarly Research Journal's](http://www.srjis.com) is licensed Based on a work at www.srjis.com

प्रस्तावना:-प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था के लिए गुरुकुल प्रणाली का विकास किया गया था। जहाँ एक-एक ऋषि, महर्षि सैकड़ों विद्यार्थियों को अपने यहाँ रख कर जीवन जीनेके लिए आवश्यक शिक्षा प्रदान करते थे। उस समय कागज का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए पुस्तकों द्वारा शिक्षा देने वाला प्रश्न ही नहीं उठता। उस समय सब प्रकार की शिक्षा मौखिक या व्यवहारिक रूप में ही दी जाती थी। इसलिए उस समय के विद्यार्थी जो कुछ पढ़ते थे उसे जन्म भर के लिए स्मरण शक्ति द्वारा सुरक्षित बना लेते थे। मन, बुद्धि, आत्मा, अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय को प्रभावित कर स्वाभाविक व्यवहार में परिवर्तन कराया जाता था एवं आचारगत परिवर्तन को ही अधिगम की परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता था “**आचारों परमो धर्मः**”। इस शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की समस्त शक्तियों का सुसंगत विकास होता था। आजकल के समान परीक्षा समाप्त होते ही पुस्तकों से नाता तोड़ लेने और पढ़े हुए विषयों में से तीन चौथाई को कुछ ही महीनों में भुला देने वाली शिक्षा प्रणाली उस समय नहीं थी। “उस समय शिक्षा द्वारा

संस्कृति का संरक्षण एवं संवर्धन किया जाता था। संस्कृति पर बल देने के कारण शिक्षा का उद्देश्य केवल पढ़ना नहीं, बल्कि अनुभव करना था, ज्ञान को आत्मसात करना था। किसी विद्यार्थी की योग्यता का प्रमाण पत्र 33 प्रतिशत उत्तीर्णकों के आधार पर प्राप्त किया हुआ किसी विश्वविद्यालय का प्रमाण पत्र नहीं, अपितु विद्वत परिषद में किया हुआ शास्त्रार्थ था, जिसके लिये वह अपने जीवन में भी तैयार रहता था। (अग्निहोत्री आर. पृ. 4)

प्राचीन भारतीय शिक्षा - प्राचीन समय में गुरुकुलों में जो कुछ शिक्षा दी जाती थी वह पूर्णरूप से व्यवहारिक होती थी। 'गुरुकुल में संयम तथा विधिविहित जीवन जो अभावों से पूर्ण था, उसमें त्याग की भावना की सृष्टि करता था। इस भावना के आने से मनुष्य विश्व को अनासक्त भाव से देखता था'। (दुबे, डॉ एस. पृ. 5) विद्यार्थी को स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया जाता था, जिससे वह अपने आगामी जीवन में कहीं भी और कैसी भी परिस्थिति में अपने पैरों पर खड़ा हो सकता था और जिससे उसमें सही निर्णय लेने की क्षमता तथा समत्वबुद्धि का विकास स्वयं हो जाता था। जीवन के प्रथमार्ध में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कराके उसके शरीर को फौलाद की तरह सुदृढ़ बना दिया जाता था। 'ब्रह्मचर्य से चरित्र विकास में बल मिलता है। सुकरात ने भी शील को ही ज्ञान माना है। भारतीय मनीषियों ने इस सत्य का साक्षात्कार पहले ही कर लिया था'। (दुबे, डॉ एस. पृ. 4) गाँवों के बाहर या जंगल के वातावरण में रहने से उसका स्वास्थ्य और सहनशक्ति इतनी मजबूत हो जाती थी कि वह प्रायः रोग और बीमारियों के आक्रमण से सुरक्षित रहता था। गुरु और गुरुकुल के आवश्यक कार्यों में उसे पूरा भाग लेना पड़ता था। 'उपनिषद काल से ही शिष्यों को गोचारण कर्म में प्रवृत्त किया जाता था। महाभारत में उपमन्यु को गोचारण तथा आरुणिउद्दालक को खेतों की देखरेख के लिये आचार्य धौम्य ने भेजा था'। (दुबे, डॉ एस. पृ. 12) राम और कृष्ण जैसे रघुवंशी और यदुवंशी छात्रों को भी गुरु के लिए जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी करके लानी पड़ती थीं, गायों को चराना, उनकी देखभाल करना विद्यार्थियों की जिम्मेदारी थी। यह काफी बड़ा काम था, क्योंकि उस समय एक-एक ऋषि के यहाँ हजारों गायें रहती थीं और समय-समय पर उन्हें हजारों गायें राजाओं और श्री मानों से दान में मिल जाती थीं। गुरु की अधिक से अधिक सेवा करना और उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना ही विद्यार्थी का परम कर्तव्य माना जाता था और गुरु भी उन्हें अपनी संतान की तरह मान कर उनके कल्याण की सदैव चेष्टा किया करते थे। 'वैदिक काल में आचार्य को शिष्य का मानस पिता माना गया है। **आचार्य उपनयमानों ब्रह्मचारिणाम कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रिसितस्त्र उदरे विमर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसयन्ति देवाः ॥** (अथर्ववेद 1/1/5) अर्थात् आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। वह तीन रात्रि पर्यन्त उसे उदर में रखता है। जब वह नया जन्म ग्रहण करता है तो देवगण उसे देखने के लिये एकत्र होते हैं'। (दुबे, डॉ एस. पृ. 22) शिष्यों को सर्वथा विकास, मोक्ष के लिये प्रेरित करना था। इसके लिये परा और अपरा शिक्षा की व्यवस्था गुरुकुलों में थी। परा के अंतर्गत आध्यात्म विषय आते थे, जिनके द्वारा ब्रह्माण्ड तथा पारलौकिकता की शिक्षा दी जाती थी जबकि अपरा के अंतर्गत लौकिकता से संबन्धित विषय होते थे। 'शिक्षा के आदर्शों, सिद्धांतों तथा विभिन्न पक्षों की चर्चा का जैसा रिवाज आजकल है वैसा कोई व्यवस्थित प्रयास प्राचीन भारत में संभवतः नहीं किया गया है। अध्ययन की आधुनिक प्रणाली पश्चिम की देन है और स्वयं पश्चिम में भी सत्रहवीं सदी से पूर्व इस प्रकार का प्रयास प्रायः नहीं किया गया था। अतः वैदिक

शिक्षा पर इकट्ठी और व्यवस्थित सामग्री कहीं नहीं मिलती, वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र, स्मृति, सुभाषित संग्रह, ब्राह्मण ग्रंथ, महाकाव्य आदि साहित्य में तथा जनसामान्य में प्रचलित सूक्तियों में इस विषय पर बहुत सामग्री मिलती है। (अग्निहोत्री आर. पृ. 2)

वर्तमान शिक्षा प्रणाली- आधुनिक शिक्षा प्रणाली विद्यालय, स्कूल या महाविद्यालय के चहारदीवारी तक सीमित हो गयी है। जिसमें अध्यापक किसी पूर्व निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार कक्षा में आता है और उसे पढ़ा कर चला जाता है। अध्यापक पाठ्यचर्या को पूरा करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और उसके बाद विद्यार्थी क्या कर रहे हैं ? इससे अध्यापक को कोई मतलब नहीं है जिसका परिणाम यह होता है की अध्यापक विद्यार्थियों में नैतिक मूल्यों का विकास नहीं कर पाते हैं। जब कोई अध्यापक उन्हें डांट देता है तो वे इसे सहन नहीं कर पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप स्कूल और कालेजों के लड़कें प्रायः अपने शिक्षकों की हंसी उड़ाते हैं, उनके विषय में अपमानजनक बातें कहते हैं और कभी-कभी तो सचमुच उनको मारते पीटते देखा गया है जिससे हमारी आँखें लज्जा से झुक जाती हैं और हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान ऐसी शिक्षा से हमें बचाये रखें।

वास्तव में शिक्षा का संपर्क स्कूली पठन-पाठन से ज्यादा नहीं है और जिसे सुशिक्षा कहा जाता है वह तो दूसरी ही चीज है। आज कल दुनिया की नज़र में शिक्षा का मुख्य लक्ष्य कोई अच्छी सी नौकरी कर सकना अथवा किसी अन्य बड़े समझे जाने वाले पेशे के द्वारा जीविकोपार्जन करना समझा जाता है। क्योंकि इन सभी कामों में लिखना-पढ़ना अनिवार्य होता है इसलिए आजकल इन कामों में सफल होने वाले व्यक्ति ही शिक्षित समझे जाते हैं। यह सत्य है कि इस जमाने में विभिन्न प्रकार के विषयों की जानकारी प्राप्त करने की सबसे सरल और सुविधाजनक मार्ग पुस्तकों का पठन-पाठन ही बन गया है, पर यह कल्पना करना कि शिक्षित होने का केवल यही एक मार्ग है, ठीक नहीं है। यही सबसे बड़ा अंतर प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा प्रणाली में है।

गुरुकुल शिक्षा की प्रणाली का मनोवैज्ञानिक आधार

गुरुओं के गुरुकुलों में शिक्षा प्रदान करने के पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक आधार थे। गुरुकुलों से अभिप्राय उनके उस आश्रम से है जहाँ वे रहते थे जहाँ निवास करके उनके शिष्य उनसे पवित्र शिक्षा पाते थे, अर्थात् गुरुकुल। ये गुरु साधू होते थे, ऋषि होते थे, आध्यात्मिक पुरुष होते थे इसीलिए तो वे आध्यात्मिक उन्नयन कर सकें जिससे **मस्तिष्क और आत्मा को संस्कृत किया जाता था। वास्तव में गुरुकुल खुली हुयी प्रयोगशाला थे, जहाँ प्रकृति के पुनीत संपर्क में प्रयोग किये जाते थे।**

(वी.सरन:पूर्वोक्त, पृष्ठ 125) गुरुकुलों के लिए ऐसे शांत पर्यावरण की आवश्यकता क्यों पड़ी? क्योंकि मस्तिष्क और वाह्य विचार वाह्य और भौतिक आकर्षणों की ओर अधिक पलायन करते हैं जिससे अशांति फैलती है। इस अशांति और कोलाहल से बचने के लिए चित्तवृत्ति निरोध आवश्यक है। शिक्षा मस्तिष्क को नियंत्रित करने का एक साधन है। जब मस्तिष्क नियंत्रित हो जायेगा तो वह बाहर पलायन करने के स्थान पर नीचे की ओर जायेगा, गहराई में जायेगा और गहन विषयों पर विचार करके स्थायी मूल्यों की खोज करेगा। **वृक्ष में जड़ का अस्तित्व पत्तियों और टहनियों से अधिक होता है, क्योंकि वह धरती के भीतर जाती है।** अतः विद्यार्थी को जहाँ शिक्षा प्रदान करनी है वह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से मनोरम होना ही चाहिए, जिसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का वास न हो। गुरुकुल वनों के प्राकृतिक वातावरण में स्थित होते थे। अतः आश्रमों में फल-फूल प्रायः पर्याप्त मात्र में सुलभ थे। जिससे गुरु और शिष्य तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। कविवर टैगोर ने एक साथ ही हर्ष और विस्मय प्रकट करते हुये वैदिक शिक्षा के इस

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

पक्ष का उल्लेख किया है की, “ इन वनों में मानव समाज भी था और पर्याप्त एकांत भी । भीड़ - भाड़ यहाँ नहीं थी । इस एकांत ने भारतीय समाज में जड़त्व या अकर्मण्यता का भाव पैदा नहीं किया , बल्कि उसे गति और प्राण प्रदान किया । इन वनों से प्रवाहित संस्कृति की धारा में समस्त भारत निमज्जित हो गया ” । (अग्निहोत्री आर. पृ. 5)

परम्परागत शिक्षा प्रणाली की विशेषताएं

उस समय कागज, कलम और पुस्तकें लेकर पढ़ने-लिखने का अभ्यास करने के बजाय विद्यार्थी का चरित्र गठन करना और जीवन संग्रह में उसे अपना और दूसरों का हित कर सकने योग्य बनाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। दूसरा उद्देश्य यह था कि मनुष्य को केवल भौतिकता की तरफ दृष्टि रखने वाला न बनाकर वह उसके जीवन को आध्यात्मिकता की तरफ मोड़ती थी। क्योंकि जो व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को अपने समान समझकर उनके हित-अनहित का ध्यान न रखेगा वह समाज के लिए कभी श्रेष्ठ नागरिक सिद्ध न होगा। जो स्वार्थी व्यक्ति भौतिक लाभों को ही सब कुछ समझकर अपनी बुद्धि का उपयोग अपने लिए अधिक से अधिक सामग्री प्राप्त करने और दूसरों को उससे वंचित रखने में करता है वह प्राचीन आदर्श की कसौटी पर निस्संदेह एक पढ़ा-लिखा मूर्ख है तथा उसे सुशिक्षित कहना शिक्षा का अपमान करना ही होगा। प्राचीन शिक्षा पद्धति की एक बड़ी विशेषता सामाजिक समानता का प्रचार भी था। ‘ धार्मिक भावना, चरित्र और व्यक्तित्व का विकास करके शिक्षा सामाजिक कर्तव्यों पर बल देती थी । तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण) की कल्पना सामाजिक जीवन को भलीभाँति सम्पन्न करने के लिये ही किए गए थे । प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी की वह आने वाली पीढ़ी को पढ़ाकर ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर पारिवारिक दायित्वों को पूरा करके समाज की सेवा करे । विद्यार्थी में यह भावना भरी जाती थी की वह समाज के धन से (भिक्षावृत्ति से) शिक्षा प्राप्त कर रहा है। अतः समाज का उस पर बहुत ऋण है ।(अग्निहोत्री आर. पृ. 4) गुरुकुलों में विद्यार्थियों को हरदर्जे की सादगी से रहना पड़ता था । जिससे गरीब-अमीर का अन्तर शिक्षाकाल में तो समाप्त ही हो जाता था। ब्रह्मचर्य के पालन के उद्देश्य से विद्यार्थियों को सब प्रकार की तड़क-भड़क की पोशाक , तेल-फुलेल, सुगन्धित उबटन तथा शृंगारसामग्री से दूर रहना पड़ता था। भोजन के लिए गाँव के किसी गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा माँग कर लाना ब्रह्मचारियों के लिए नियम रखा गया था। इससे एक ओर जहाँ विद्यार्थी के हृदय में नम्रता तथा विनय का भाव उत्पन्न होता था वहीं दूसरी ओर वह अपने को समाज का ऋणी और उसका एक अंग समझने लगता था और भविष्य में समाज सेवा करना उसका कर्तव्य हो जाता था। इस प्रकार के वातावरण में नितान्त गरीब बालक भी उच्च शिक्षा भी सहजता से प्राप्त कर लेते थे । कृष्ण और सुदामा तथा राजा द्रुपद तथा द्रोणाचार्य का एक साथ मित्र रूप में शिक्षा प्राप्त करना इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली इस दृष्टि से बड़ी ही दूषित हो गई है। कालेजों की शिक्षा तो इतनी खर्चीली हो गई है और वहाँ के ज्यादातर छात्र ऐसे बने-ठने तथा फैशन के पुतले रहते हैं कि किसी गरीब घर के लड़के का वहाँ पहुँच सकना ही असम्भव होता है। अगर ऐसा कोई विद्यार्थी किसी की सहायता से अथवा स्वयं ट्यूशन आदि करके वहाँ पढ़ने के लिए पहुँच भी गया तो वह सदा अपने आप को नीचा ही पाता है।

परम्परागत शिक्षा प्रणाली के प्रति भ्रांतियां एवं निवारण

कुछ व्यक्ति प्राचीन शिक्षा पद्धति में यह दोष बतलाते हैं कि उसका क्षेत्र बहुत संकुचित था और उस समय के विद्यार्थियों का दृष्टिकोण उतना व्यापक नहीं बना पाता था जितना कि आजकल के विद्यार्थियों का है। हम यह मान सकते हैं कि प्राचीन समय में शिक्षा का स्वरूप मुख्यतया धार्मिक ही होता था और अधिकांश विद्यार्थी पूजा-पाठ, स्तुति तथा कुछ कर्मकाण्ड सम्बन्धी बातों के अतिरिक्त अन्य विषयों का ज्ञान कदाचित ही प्राप्त करते थे। किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिये की, “सा विद्या या विमुक्तये” अर्थात् ज्ञान मुक्ति का साधन था पढ़ाया जाने वाला सारा साहित्य धार्मिक था किन्तु तब धर्म का अर्थ केवल पूजा पाठ नहीं था। तब धर्म समग्र जीवन का पर्याय था। (अग्निहोत्री आर. पृ. 5) यह भी सच है कि उस समय शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों की संख्या समस्त आबादी के अनुपात से बहुत अल्प होती थी। उस समय की सामाजिक अवस्था और व्यवस्था ही आजकल से सर्वथा भिन्न थी और उस समय का समाज मुख्य रूप से कृषि प्रधान था। खेती-बाड़ी का काम करने वालों के लिए साहित्य और विज्ञान की शिक्षा तो आजकल भी सुलभ नहीं है और गाँवों की ज्यादातर जनसंख्या कृषि की वैज्ञानिक खेती से निरक्षर ही है। उस समय उद्योग धन्धे भी हाथ की कारीगरी के रूप में किये जाते थे और उनका उद्देश्य विशेषतः किसानों की आवश्यकता की वस्तुएँ बनाना ही था। बड़े-बड़े नगरों की संख्या कम थी और वैदेशिक व्यापार बहुत सीमित रूप में किया जाता था। फिर उस समय शिक्षा का उद्देश्य केवल किताबी शिक्षा ग्रहण करके कोई उपाधि प्राप्त कर लेना नहीं था, वरन् प्रत्येक बालक को उसकी जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। जैसे ब्राह्मण के पुत्र को कर्मकाण्ड की शिक्षा, क्षत्रिय पुत्र को शस्त्र-संचालन तथा राजनीति की शिक्षा, वैश्य को विविध प्रकार के उद्योग धन्धों तथा व्यापार की शिक्षा आदि। शूद्रों का एक बड़ा भाग मेहनत मजदूरी के साधारण कामों में लगा रहता होगा। ऐसी अवस्था में पढ़ने-लिखने का प्रचार कम रहा हो या उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति गिने-चुने ही देखने में आते हों तो कोई आश्चर्य नहीं पर यह ख्याल करना कि धार्मिक क्रिया-कलाप के सिवाय देश में किसी अन्य विषय की शिक्षा का प्रचार ही न था, अज्ञान का द्योतक है। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार, “शिक्षा केवल सैद्धांतिक और अकादमिक नहीं थी वरन् वह किसी न किसी शिल्प से सम्बद्ध थी”। (अग्निहोत्री आर. पृ. 5) छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर सनत्कुमार के पूछने पर नारद ऋषि ने कहा था- “हे भगवान मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, देवविद्या, निधि विद्या, पाकोवाक्य विद्या, एकायनविद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प देव जन विद्याओं का अध्ययन किया है”। हमारे प्राचीन साहित्य में चौदह विद्याओं और चौंसठ कलाओं का जिक्र जगह-जगह पाया जाता है। इन विद्याओं और कलाओं में जीवन की अनेक आवश्यक और उसे सुसभ्य तथा सुसंस्कृत बनाने की बातों का समावेश हो जाता है। अस्त्र-शस्त्र संचालन, संगीत, वैद्यक, ज्योतिष, चित्रकारी, मूर्ति बनाना, गृह निर्माण, वस्त्र-कला, आभूषण और सुगन्धित पदार्थों का बनाना आदि कितने ही विषयों में उस समय के भारत वासियों ने अपूर्व उन्नति की थी। ये सब कार्य बिना समुचित शिक्षा के यथोचित रूप में किये जा सकें यह संभव नहीं। यद्यपि काल प्रभाव से प्राचीन चिह्नों का हजारों वर्ष तक कायम रह सकना असंभव है, तो भी दो, ढाई हजार वर्ष पुरानी अजंता, एलोरा आदि गुफाओं में जो अद्भुत मूर्तियों और चित्रकारी के नमूने मिलते हैं और प्राचीन समय की जो दस-पाँच

महाविशाल इमारतें अभी दक्षिण और उत्तर भारत में पाई जाती हैं उनसे यह प्रकट होता है कि उस समय तक हमारे देश में इन विद्याओं का विकास उच्च कोटि तक पहुँच गया था। इस प्रकार का विकास तभी संभव हो सकता है जब कि देश में अच्छी शिक्षा संस्थाएँ हजार पाँच सौ वर्ष तक स्थित रह कर कार्य कर चुकीं हों या शिक्षा देने की कोई और नियमित व्यवस्था निरन्तर प्रचलित रह चुकी हो।

वर्तमान विद्यालयी शिक्षा प्रणाली एवं उसके विपक्ष में तर्क

आज शिक्षा का बहुत अधिक विस्तार या घर-घर में उसका फैल जाना यह एक दृष्टि से अच्छा भी है और दूसरी दृष्टि से इसमें बहुत सी कमियाँ भी हैं। आजकल तो हमको शिक्षा और विद्या के सार्वजनिक प्रचार का , खास कर स्कूलों और कालेजों में पढ़कर निकलने वाले विद्यार्थियों की अगणित सेना का परिणाम बेकारी और अनीति की वृद्धि ही दिखलाई पड़ रहा है। यह सच है कि आजकल शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है, पर साथ ही यह शिक्षा अधिकाँश में खोखली है। उसके द्वारा मनुष्य कार्यक्षम और सुयोग्य बनने की बजाय चालाक और दिखावट पसंद बन रहे हैं। साथ ही परीक्षा पास कर लेने को विद्या और शिक्षा की कसौटी बना देने से किसी भी कार्य को सम्पन्न करने की वास्तविक योग्यता का हास हो रहा है। इस समय चारों तरफ दिखलाई पड़ने वाली भीषण बेकारी की समस्या का वास्तविक कारण यही है कि विद्यार्थियों को केवल किताबी शिक्षा देकर उनमें शिक्षित होने का अभिमान तो उत्पन्न कर दिया जाता है , पर किसी लोकोपयोगी कार्य को परिश्रम , सच्चाई और बुद्धिमत्तापूर्वक करने का सामर्थ्य उनके अंदर पैदा नहीं की जाती है।

निष्कर्ष:-वर्तमान वैज्ञानिक युग में ऋषियों के निजी गुरुकुलों की स्थापना हो सकना असंभव है। अब एक लंगोटी या धोती पहने, मूँड मुड़ाये भोजन के लिए भिक्षावृत्ति को अंगीकार करने वाले विद्यार्थी की कल्पना करना भी हास्योत्पादक ही मानी जायेगी। अब शिक्षा की व्यवस्था को देश की सरकार ने अपने हाथों में ले लिया है और अन्य किसी के पास इतने साधन होने असंभव हैं कि वह इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर सके। इसलिए वर्तमान स्कूलों तथा कालेजों का सर्वथा उच्छेद हो सकना तो संभव नहीं पर उनका रूपांतर होना अत्यन्त आवश्यक है और उनमें प्राचीन शिक्षा पद्धति की उपयोगी बातों का समावेश करने से बहुत अधिक लाभ उठाया जा सकता है। इस तरह दोनों पहलुओं पर विचार करने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्राचीन शिक्षा पद्धति तथा देशकाल की वर्तमान बदली हुई परिस्थिति में ठीक उसी तरह नहीं लागू की जा सकती है किन्तु उसमे कुछ परिवर्तन करके उससे लागू किया जाय तो हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति और लाभकारी हो सकती है।

इस दृष्टि से सब से पहली बात तो हम यही समझते हैं कि शिक्षा पद्धति में कोरी जानकारी की अपेक्षा गुणों का महत्व अधिक होना चाहिए। प्राचीन काल के विद्यार्थियों के पास चाहे आजकल के स्कूली लड़के-लड़कियों की तरह पुस्तकों और कापियों के ढेर नहीं लगे रहते थे और न उनमें से प्रत्येक को भूगोल और इतिहास से लेकर विज्ञान के आविष्कारों तक की पाठ्य पुस्तकें पढ़नी पड़ती थीं, पर उस समय जो कुछ सिखलाया जाता था वह जीवन भर के लिए उपयोगी होता था और उसे ऐसा पक्का कर दिया जाता था कि मनुष्य उसे कभी भूल नहीं सकता था। हम नहीं समझते कि दुनिया भर की बातों की जबानी जानकारी प्राप्त कर लेने की चेष्टा करना, पर व्यवहारिक कार्य के नाम पर शून्य होना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।

दूसरी बात है वर्तमान समय की परीक्षाओं और डिग्रियाँ दिये जाने की प्रणाली। संभव है आरम्भ में इससे कुछ लाभ हुआ हो पर आजकल तो इसका स्वरूप अत्यन्त विकृत तथा भ्रष्ट हो गया। छल, कपट, बेईमानी, रिश्तत आदि किसी भी साधन से परीक्षोत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेना ही इस समय अधिकांश विद्यार्थियों का लक्ष्य दिखलाई पड़ता है। “ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं” अर्थात् ज्ञान मनुष्य की तीसरी आँख है। ‘हमारे वर्तमान समाज में ज्ञान के जो केंद्र कहे जाते हैं वे डिग्री के रूप में तीसरी आँख का थोक वितरण कर रहे हैं, पर क्या विडम्बना है कि उसमें रोशनी ही नहीं है’। (अग्निहोत्री आर. प्रस्तावना) इससे शिक्षा का मूल्य घटता जा रहा है और बी. ए., एम. ए. पास व्यक्ति चपरासी तक की नौकरी करते दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार की झूठी सनदों के बजाय प्राचीन काल के छात्र शिक्षा समाप्त कर लेने पर कोई महत्व का कार्य करके दिखलाते थे और उसके द्वारा अपनी योग्यता का प्रमाण देते थे। वैदिक और पौराणिक काल में गुरुदक्षिणा की प्रणाली एक सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाली थी। विश्वामित्र ने अपने शिष्य गालव से आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ों की माँग की थी और द्रोणाचार्य ने अर्जुन को राजा द्रुपद को पकड़ लाने का आदेश दिया था। अब समय आ गया है कि परीक्षाओं की मौजूदा प्रणाली को बन्द कर दिया जाय, और उसके स्थान में ऐसे तरीके का प्रयोग किया जाय जिससे विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता की जाँच हो सके और उनको तदनु रूप कामों में ही नियुक्त किया जा सके।

सबसे बड़ी त्रुटि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में यह है कि यह विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण करने के बजाय उसका नाश कर देती है और नवयुवकों को जीवन के आरम्भ से ही काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि का दास बना देती है। इसी का परिणाम है कि जब बीस-पच्चीस वर्ष की आयु में आजकल के विद्यार्थी बी.ए., एम. ए. की डिग्रियाँ लेकर जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो वे प्रायः निर्बल, निस्तेज और अनेक प्रकार की आधि-व्याधि के शिकार दिखलाई पड़ते हैं। प्राचीन समय के छात्र चौबीस-पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करके और हर तरह के कठोर जीवन को सहन करके पूर्ण शक्ति और उत्साह के साथ जीवन-संग्राम में पदार्पण करते थे और आत्म-विश्वास के साथ प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने को प्रस्तुत रहते थे। यही दोनों प्रणालियों का सर्वप्रधान अन्तर है और उपरोक्त उद्देश्य को सम्मुख रखकर ही हमको अपनी शिक्षा-पद्धति का पुनः निर्माण करना चाहिये।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- अग्निहोत्री, आर. (2006), आधुनिक भारतीय शिक्षा की समस्याएँ और समाधान, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी जयपुर
दिनकर, आर. सिंह (2015), संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद - 211001
दुबे, एस. 'शरतेन्दु', (2007), प्राचीन भारत में शिक्षा, शारदा पुस्तक भवन, पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स 11, यूनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद - 211002।
ई., श्रीधरन एवं बख्तू, भ. (2017), मूल्यों की पुनः स्थापना, सेज भाषा पब्लिकेशन्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड बी.1/ आई -1 मोहन कोआपरेटिव इंडस्ट्रियल एरिया मथुरा रोड, नयी दिल्ली- 110044
गुप्ता, एस.पी. तथा अल्का गुप्ता (2015), भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएं, इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स 11, यूनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद- 211002
गुप्ता एस.पी. तथा अल्का गुप्ता (2008), भारतीय शिक्षा का सफरनामा, इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स 11, यूनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद-211002
लाल, आर.बी. (2013), भारतीय शिक्षा का विकास एवं उसकी समस्याएं, रस्तोगी पब्लिकेशनस, मेरठ -दिल्ली
पाण्डेय, आर., (2013), प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, शारदा पुस्तक भवन, पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स 11, यूनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद - 211002
www.wikipedia.com